25_chandan-shrivastava:Layout 1 5/7/2014 3:00 PM Page 348

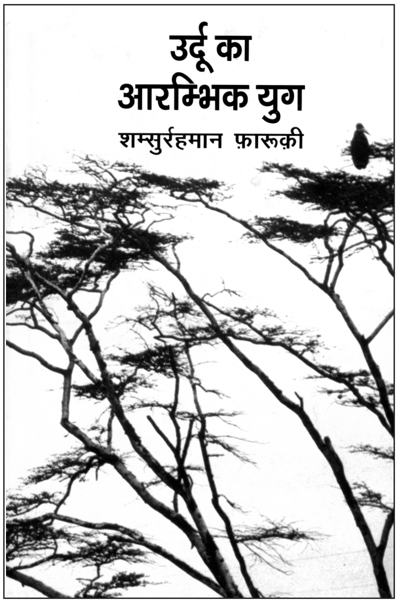

उर्दू का आरम्भिक युग बनाम हिंदी की प्राचीनता

चंदन श्रीवास्तव

उर्दू का आरम्भिक युग : साहित्यिक संस्कृति एवं इतिहास के पहलू
शम्सुर्रहमान फ़ारूक़ी
अनुवाद : रहील सिद्दीकी / गोविंद प्रसाद
सम्पादन : कृष्णमोहन / दीपक रूहानी
राजकमल प्रकाशन, नयी दिल्ली
पहला संस्करण : 2007, पहली आवृति : 2008
पृष्ठ 151, मूल्य 175 रुपये

गो कि ग़ालिब को बराबर ख़याल रहा कि उनका अंदाज़-ए-बयाँ कुछ और है, फिर भी वे ख़ुद को यह कहने से नहीं रोक सके कि अगले ज़माने में कोई मीर भी था। मीर ख़ुद भी अपने फ़न, ख़ास कर, अपनी काव्य-भाषा की बारीक़ियों को लेकर बहुत आश्वस्त थे, वरना वे यह न कहते :

बुलबुल ग़ज़ल सराई आगे हमारे मत कर
सब हमसे सीखते हैं,अंदाज़ ग़ुफ्तगू का।

मीर को ग़ुफ़्तगू का जो अंदाज़ नापसंद था, उसके बारे में अंदाज़ा उनके एक शेर से होता है। शेर कुछ इस तरह है :

यों पुकारते हैं मुझे कू-ए-जानाँ वाले
ऐबे, अबे वो चाक़-ग़रीबाँ वाले।

मीर के वक़्तों में दिल्ली के मिर्ज़ाओं के बीच शाहजहाँनाबाद की यही ख़ास महीन ज़ुबान, जो लोगों को ग़ुफ़्तगू के अंदाज़ सिखाने की भावना से प्रेरित थी, उर्दू कहलाई। इस ज़ुबान की हैसियत

25_chandan-shrivastava:Layout 1 5/7/2014 3:00 PM Page 349

के बारे में शम्सुर्रहमान फ़ारूक़ी अपनी इस पुस्तक में एक क़िस्सा *आब-ए-हयात* के लेखक मौलाना मुहम्मद हुसैन आज़ाद के हवाले से दर्ज करते हैं। क़िस्सा कुछ इस तरह है कि दिल्ली में एक कवि मीर क़मरुद्दीन मिन्नत नाम से हुए। ये मीर तक़ी मीर के समकालीन थे और पारम्परिक विद्याओं के ज्ञान के कारण सरकारी दरबार के ख़ेमे में थे। आज़ाद के अनुसार मिन्नत साहब को शाइरी का बड़ा शौक़ था, सो मीर के पास इस्लाह के लिए उर्दू की एक ग़ज़ल ले गये। मीर साहब ने वतन पूछा तो, उन्होंने सोनीपत (पानीपत) बताया। आप ने फ़रमाया कि सैयद साहब उर्दू-ए-मुअल्ला ख़ास दिल्ली की जबान है और इसमें तकलीफ़ न कीजिए, अपनी फ़ारसी-वारसी कह लीजिए ...। (पृ. 124)।

इस क़िस्से के बाद फ़ारूक़ी साहब अपनी राय इन लफ़्ज़ों में दर्ज करते हैं :

> यह कहानी काल्पनिक ही सही लेकिन ऐसे लतीफ़े का वजूद हमें अट्ठारहवीं शती की साहित्यिक-संस्कृति और उसके ज़ेहन में बसी अपनी छवि के बारे में कुछ बताता है ... क़मरुद्दीन मिन्नत हज़ार सैयदज़ादे हों, प्रतिष्ठित दरबारियों में हों, फ़ारसी ख़ूब जानते हों, लेकिन मृदुलता, नफ़ासत और शुद्धता में वे दिल्ली के रेख़्तावालों की धूल को भी न पहुँच सकते थे। 1750 की दहाई शुरू होते-होते उर्दू के पक्ष में वातावरण इतना हमवार हो चुका था कि उर्दू जानना, उर्दू में शेर कहना, उर्दू बोलना, ये सब बातें लोकप्रिय व्यक्तित्व का भाग बन गयी थीं ... और ऐसा दिल्ली में न था, बल्कि मुग़ल राज्य के सभी क्षेत्रों में यही स्थिति पैदा हो गयी ...। (पृ. 125)

मतलब यह कि दिल्ली के रेख़्तावालों की ज़ुबान में मृदुलता, नफ़ासत और शुद्धता का ज़ोर 1750 यानी गिलक्राइस्ट के फ़ोर्ट विलियम कॉलेज से क़रीब पाँच दशक पहले ही बढ़ चुका था और वह हिंदुस्तान के एक बड़े हिस्से में पहुँच चुकी थी। किताब की राजनीतिक योजना के भीतर यह अत्यंत महत्त्वपूर्ण स्थापना है। इस स्थापना को मान्यता देते ही एक साथ कई बातें होती हैं। एक तो यह कहना सम्भव हो जाता है कि हिंदी के पुरानेपन का कोई भी दावा बेतुका है। दरअसल आज की हिंदी अंग्रेज़ों (फ़ोर्ट विलियम कॉलेज) की गढ़ी हुई चीज़ है, और इसलिए उर्दू की तुलना में वह बिल्कुल ही एक नयी भाषा है। दूसरे, इस दावे को मज़बूती मिलती है कि उन्नीसवीं सदी के उत्तरार्ध में चले हिंदी-आंदोलन के पैरोकार अंग्रेज़ों द्वारा भाषा के बारे में फैलाई गयी विषवेल (हिंदी हिंदुओं की और उर्दू मुसलमानों की) को पुष्पित-पल्लवित करने के दोषी हैं। और तीसरे, यह दलील पुष्ट होती है कि उर्दू को हिंदी की एक शैली कहने का प्रचलन दरअसल साम्प्रदायिक अहंमन्यता का सूचक है, क्योंकि उन्नीसवीं सदी के उत्तरार्ध में हिंदी नाम की जो नयी भाषा बनी, दरअसल तो वह अट्ठारहवीं सदी के उत्तरार्ध से चली आ रही उर्दू ही थी, जिसके भीतर चुन-चुन कर संस्कृत के शब्द और मुहावरे भर दिये गये थे।

छोटे-छोटे सात अध्यायों में विभक्त कुल 151 पन्नों की किताब *उर्दू का आरम्भिक युग* के अनुसार चूँकि हिंदी-उर्दू के संबंधों को सुलझाए बिना आरम्भिक उर्दू का पद अर्थहीन है इसलिए अपनी बात कहने के लिए किताब के लेखक को ज़रूरी लगा कि 'आधुनिक हिंदी के आरम्भ और उसकी छुपी (और प्रत्यक्ष) राजनीति और उर्दू के साहित्य-संस्कृति पर उसके प्रभाव को समझने से शुरुआत' की जाए। किताब की हिंदी- विषयक समझ की परिणति उपर्युक्त तीन बातों में होती है। इतिहासकार वसुधा डालमिया के हवाले से समीक्ष्य पुस्तक में जार्ज ग्रियर्सन की हिंदी के बारे में बहुउद्धृत बात एक बार फिर से दोहराई गयी है कि वह अजीबो-ग़रीब मज़ेदार मिलवाँ भाषा, जिसे युरोप के लोग हिंदी के नाम से जानते हैं असल में स्वयं युरोपीय लोगों की आविष्कार की हुई है। फ़ारूक़ी डालमिया के कथन से सहमति जताते हैं कि बीती सदी की 1861-1870 वाली दहाई आते-आते हिंदी के जातीय समर्थक, जो हिंदी के आरम्भ के बारे में मिथ और वंशावली-सृजन करने में लीन थे, अपनी भाषा को बनावटी मानने के ख़िलाफ़ हो गये। उन्हें इस पर यक़ीन था कि हिंदी उत्तर भारत के क्षेत्रों में सभी घरों में बोली जाती है और यह स्थिति मुसलमानों के हमले से पहले से चली आ रही है। (पृ. 33).

25_chandan-shrivastava:Layout 1 5/7/2014 3:00 PM Page 350

समीक्ष्य पुस्तक में डालमिया की रचना (द *नैशनलाइज़ेशन ऑफ़ हिंदू ट्रेडिशन : भारतेंदु ऐंड नाइंटींथ सेंचुरी बनारस*) के हिंदी-विषयक विचार का सारांश इन शब्दों में दर्ज है :

> राष्ट्रवादियों और साम्राजियों में कम से कम इस बात पर सहमति थी कि हिंदुओं की अपनी एक भाषा है और यह भाषा उन्हें आज ही के मुसलमानों से नहीं बल्कि भूतकालीन मुसलमानों से अलग करती है। दोनों में विभिन्नता थी तो बस इस बात की कि अंग्रेज़ों का दावा और ज़ोर अपने बारे में था कि हमने यह भाषा पैदा की। यह हमीं थे जिसने इसको मुसलमानी मलबे से निकाला, वह सारा मलबा जो इसके अंदर और चारों ओर जमा हो गया था। इसके विपरीत हिंदुओं को यद्यपि यह बात मान्य थी कि इस आधुनिक हिंदी भाषा में कोई साहित्य न था, लेकिन वे यह भी दावा करते कि इस भाषा की क्रमबद्धता प्राचीन काल से थी। (पृ. 34)

फ़ारूक़ी साहब की मान्यता है कि 'हिंदी प्रेमियों ने वसुधा डालमिया की किताब को प्रशंसा की निगाह से नहीं देखा'। (प. 34) किन लोगों को वसुधा डालमिया की बात नाग़वार गुजरी और अगर नाग़वार गुजरी तो उन्होंने क्या तर्क प्रस्तुत किये, किताब में इसका कोई ज़िक्र नहीं है। बहरहाल, अगर ऐसा हुआ तो क्यों हुआ— इसका एक प्रच्छन्न उत्तर समीक्ष्य पुस्तक में यह मिलता है कि उन्नीसवीं सदी के हिंदी-समर्थकों के अपनी जातीय भाषा विषयक भ्रामक विचार अब हिंदी बोलने-लिखने वालों के लिए एक विश्वास में बदल गये हैं। फ़ारूक़ी साहब लिखते हैं :

> आज के आम हिंदी बोलने वाले के लिए उन्नीसवीं सदी के हिंदी के जातीय समर्थकों का यह विचार अब विश्वास में बदल चुका है कि जिस भाषा को वह हिंदी के नाम से जानता है, वह प्राचीन समय से मौजूद है और इसके साहित्य का श्रीगणेश (अगर और पहले नहीं भी तो) कम से कम ख़ुसरो (1253-1325) से होता है। और चूँकि ऐसे बहुत से लोगों का मानना है कि कभी अट्ठारहवीं शताब्दी में पुराने ज़माने की यह असली हिंदी या हिंदवी उस समय उर्दू बन गयी जब मुसलमानों ने फ़ैसला लिया कि वे अपने समय की प्रचलित हिंदी की राह से हटकर एक भारी-भरकम फ़ारसीयुक्त भाषा अपनाएँगे और यह भाषा हिंदुस्तानी मुसलमानों की पहचान बन गयी। (पृ. 11)

किताब में वसुधा डालमिया का ज़िक्र एक बार आया है लेकिन इतिहासकार ताराचंद का कई बार— हर बार यह बताने या फिर संकेत करने के लिए कि उन्नीसवीं सदी के उत्तरार्ध से पहले की तमाम सदियों में हिंदी (अर्थात् फ़ारसीयुक्त हिंदुस्तानी) हिंदुस्तान की लिंग्वा फ्रांका और सभ्य समाज की भाषा थी, चाहे हिंदू हों या मुसलमान (पृ. 49)। अंत में आज की हिंदी के बनने के बारे में अंतिम फ़ैसला भाषाविद् सुनीति कुमार चटर्जी के सहारे सुनाया गया है कि 'ऐतिहासिक एतबार से उर्दू उस चीज़ की रूपांतरित मुसलमानियाई हुई शक्ल नहीं, जो आज हिंदी (अर्थात् संस्कृतयुक्त खड़ी बोली) के नाम से जानी जाती है। बल्कि मामला इसका उल्टा ही है। वह फ़ारसी मिश्रित हिंदुस्तानी जो अट्ठारहवीं शताब्दी के मुग़ल दरबार में विकसित हुई (और जो उससे पहले दकनी बोली में मिलती है)... उसे हिंदुओं ने अपनाया ... फिर देशी नागरी को अपनाया और बड़ी गाढ़ी संस्कृत युक्त शब्दावली का प्रयोग आरम्भ कर दिया ... और इस प्रकार उन्होंने हिंदी का स्वरूप निर्धारित किया। यह काम 1800 के आसपास हुआ और विशेषकर कलकत्ता में।' (पृ. 43)

आज की हिंदी की उत्पत्ति, उसकी राजनीति (साम्राज्यवादी) तथा चरित्र (साम्प्रदायिक) की कथा सुनाने के क्रम में ही फ़ारूक़ी साहब की किताब आरम्भिक उर्दू के जन्म, विकास, विस्तार और आख़िर के कुछ पन्नों में विकासमान उर्दू की राह में आयी उन रुकावटों का ज़िक्र छेड़ती है जिनकी वजह से उर्दू अखिल भारतीय लिंग्वा फ्रांका और साझी संस्कृति की वाहक होते-होते रह गयी। किताब इसके लिए एक दिलचस्प तरक़ीब ईजाद करती है, कुछ इस तरह कि जिस भाषा को आज उर्दू कहा जाता है उसके बारे में साबित करने की कोशिश की जाए कि उसका पुराना नाम हिंदी था। किताब की आधारभूत स्थापनाओं में से एक यह है कि 'पुराने ज़माने में उर्दू नाम की कोई भाषा नहीं थी। जो लोग 'अर्ली उर्दू' पद का इस्तेमाल करते हैं वे भाषा- विज्ञान और इतिहास की दृष्टि से ग़लत

25_chandan-shrivastava:Layout 1 5/7/2014 3:00 PM Page 351

शब्द बरतते हैं' (पृ. 11)। लेखक किताब के शुरुआती पन्नों में ही याद दिलाता है कि जिस भाषा को आज हम उर्दू कहते हैं, पुराने ज़माने में उसी भाषा को हिंदवी, हिंदी, देहलवी, गुजरी, दकनी और फिर रेख़्ता कहा गया। ये नाम लगभग उसी क्रम से प्रयोग में आये, जिस क्रम में उन्हें दर्ज किया गया है। यह ज़रूर है कि इस भाषा का जो रूप दकन में बोला और लिखा जाता था, उसे सत्रहवीं शताब्दी से लेकर उन्नीसवीं शताब्दी के लगभग मध्य तक दकनी ही कहते थे और उत्तर भारत में एक बड़े समय तक रेख़्ता और हिंदी दोनों ही इस भाषा के नाम की हैसियत से साथ-साथ इस्तेमाल होते थे। अंग्रेज़ों ने इस भाषा के लिए अपनी ईज़ाद या पसंद के नाम का इस्तेमाल किया।

जिस भाषा को आज हम उर्दू कहते हैं, पुराने ज़माने में उसी भाषा को हिंदवी, हिंदी, देहलवी, गुजरी, दकनी और फिर रेख़्ता कहा गया। ये नाम लगभग उसी क्रम से प्रयोग में आये, जिस क्रम मे उन्हें दर्ज किया गया है। यह ज़रूर है कि इस भाषा का जो रूप दकन में बोला और लिखा जाता था, उसे सत्रहवीं शताब्दी से लेकर उन्नीसवीं शताब्दी के लगभग मध्य तक दकनी ही कहते थे और उत्तर भारत में एक बड़े समय तक रेख़्ता और हिंदी दोनों ही इस भाषा के नाम की हैसियत से साथ-साथ इस्तेमाल होते थे। अंग्रेज़ों ने इस भाषा के लिए अपनी ईज़ाद या पसंद के नाम का इस्तेमाल किया।

ज़ाहिर है कि इस याददहानी के बाद किताब में उर्दू का नाम हिंदी/हिंदवी के रूप में लिखा गया है जिसका संक्षिप्त विकास-क्रम इन शब्दों में बयान है :

1. गुजरात में और फिर जल्दी ही दकन में सूफ़ियों ने हमारी भाषा (यानी हिंदवी) को अपनाया। इससे पहले इस भाषा की कोई साहित्यिक हैसियत न थी।

2. मसऊद साद सलमान (लेखक के अनुसार हिंदवी के प्रथम लेखक) और इसके बाद अमीर ख़ुसरो ने हिंदी/हिंदवी में जो लिखा वह केवल तात्कालिक और प्रासंगिक (कैज़ुअल) था। इसके पीछे कोई परम्परा न थी।

3. चौदहवीं सदी की अवधि में साहित्यिक गतिविधियों (मुल्ला दाऊद की *चंदायन* (1379) का होना इस बात का प्रमाण है कि हिंदी/हिंदवी उस समय तक साहित्यिक भाषा न बनी थी, वरना सम्भव है कि मुल्ला दाऊद उसे ही अपनाते। उनके समय में तो आलम यह है कि वे अपनी अवधी को ही हिंदी यानी नर्मदा के ऊपर वाले भाग की भाषा कह रहे हैं। उनकी नज़र में हमारी हिंदवी/हिंदी का वजूद न था।

4. उर्दू के प्राचीनतम साहित्यिक आलेख गुजरात और फिर ख़ास दकन में वजूद में आये और एक के सिवा बाक़ी सब सूफ़ियाना हैं।

5. चूँकि सूफ़ी लोगों के श्रोताओं में उनके मानने वाले मुरीद (शिष्य) और श्रद्धालु अधिक संख्या में होते थे, अत: यह स्वाभाविक था कि सूफ़ियों के मुरीद अपने पीर (धर्मगुरु) की बातों और मूल पाठ को विशेष प्रकार से सुरक्षित कर लेते हों।

6. शेख़ अब्दुल क़ुद्दुस गंगोही (1455-1538) और संत कबीर (देहांत 1518) के पहले किसी सूफ़ी ने हिंदी/हिंदवी को उत्तर भारत में साहित्यिक अभिव्यक्ति का माध्यम नहीं बनाया। लेकिन न तो गंगोही, न ही कबीर ने उस ख़ालिस खड़ी बोली में रचना की जो विकास करके आज की उर्दू बनी। शेख गंगोही की भाषा में ब्रज की बहुलता है और कबीर की भाषा में अवधी और भोजपुरी के तत्त्व दिखाई देते हैं। इससे महत्त्वपूर्ण बात यह है कि दोनों ही दिल्ली से दूर थे और दिल्ली ही उन दिनों हिंदू-मुस्लिम सभ्यता की राजधानी थी।

7. उत्तर भारत में सूफ़ियों की हिंदी/हिंदवी के इतने देर से आने का कारण इस बात में छिपा है

25_chandan-shrivastava:Layout 1 5/7/2014 3:00 PM Page 352

कि उत्तर भारत में सूफ़ियों ने इस भाषा को अपना अभिव्यक्ति माध्यम बनाने में विलम्ब किया।

8. इस विलम्ब का एक कारण यह समझ में आता है कि उस ज़माने में दिल्ली, पंजाब और निकटवर्ती क्षेत्रों में फ़ारसी जनसाधारण की भाषा नहीं तो लिंग्वाफ्रांका की स्थिति में अवश्य थी। (पृ. 89-90)

पुस्तक के अनुसार इस विकासक्रम में एक निर्णायक मोड़ आता है वली दकनी के साथ। वली दकनी का जन्म 1665-1667 का है और मृत्यु 1707-08 की। इन वली दकनी ने तत्कालीन उत्तर भारत (जहाँ लेखक के अनुसार फ़ारसी बहैसियत लिंग्वाफ्रांका विराजती थी) के सांस्कृतिक ठिकाने दिल्ली की काव्य-भाषा को नया संस्कार दिया। वे सूफ़ी न थे, दुनियावी आदमी थे और उनकी कविता भी दुनियावी मिज़ाज की है। सो, सूफ़ियों के माध्यम से धार्मिक बातों के इर्द-गिर्द अब तक होती आयी हिंदवी (प्रकारांतर से दकनी और गुजरी) की काव्य-परम्परा के भीतर उन्होंने एक उलटफेर किया। वे महान् कवि थे और पुस्तक के अनुसार अपने वक़्त के तमाम रेख़्ता कवियों को ख़ुद से कमतर मानते थे। यहाँ तक कि उन्होंने फ़ारसी के बड़े कवियों को अपना प्रतिद्वंद्वी या अपने से कमतर माना है। किताब के अनुसार वली ख़ुद ब ख़ुद ही वली दकनी न बन गये थे '... हर बड़े कवि का कोई न कोई पथप्रदर्शक होता है और वली ने अपना पथ-प्रदर्शक हसन शौकी (मृत्यु 1633) को माना है ... इसके अतिरिक्त वली ने गुजरी और दकनी दोनों साहित्यिक संस्कृतियों और परम्पराओं से फ़ायदा उठाया है...।' (पृष्ठ 113)।.

फ़ारूक़ी साहब सविस्तार इस बात का ज़िक्र करते हैं कि वली की भाषा दरअसल वही भाषा है जो वली के समय में दिल्ली में बोली जाती थी ... (पृ.113-114) क्योंकि औरंगज़ेब और उसकी विशाल सेना ने औरंगाबाद को अपना अड्डा बनाया तो दिल्ली में बोली जाने वाली भाषा अपने साथ ले गयी। 'ऐसे में दकनी/हिंदी/हिंदवी का एक नया रूप औरंगाबाद और उसके चारों और विकसित होने लगा ... औरंगाबाद या दकन में औरंगज़ेब की उपस्थिति उसके राज्यारोहण से पहले की है और देश के इन क्षेत्रों में उसका अभियान उसके पचास वर्षीय शासनकाल (1658-1707) में लगातार जारी रहा।' सो, दिल्ली वालों को वली ने दरअस्ल जो भाषा सौंपी वह उन्हीं की भाषा थी, अंतर यह कि वली की कविता ने उसे काव्यात्मक ऊँचाई दे दी थी।

किताब के अनुसार दकनी होकर भी उन्होंने दिल्ली वालों को उर्दू काव्य-रचना का पाठ पढ़ाया— यह बात दिल्ली के मिर्ज़ाओं को ज़हर से भी अधिक कड़वी रही होगी। यह घूँट वे पी तो गये परंतु इसका स्वाद अपने मस्तिष्क से भुलाने का उन्होंने पूरा प्रयत्न किया और यह प्रयत्न अब तक सफल रहा है ... मीर और काईम ने वली के कारनामे की महत्ता कम करने का पूरा प्रयत्न किया और शाह शादउल्ला गुलशन वाली घटना गढ़ी ... (पृ. 109) कि दिल्ली के शाह गुलशन ने वली से कहा कि फ़ारसी तर्ज की कविता उर्दू में कहो लेखक के अनुसार। शाह गुलशन वाली घटना एक अफ़साना भर है। समीक्ष्य पुस्तक *उर्दू का आरम्भिक युग* वली के कारनामें को इन शब्दों में दर्ज करती है :

> वली का कारनामा यह है कि उन्होंने निश्चित तौर पर और हमेशा के लिए साबित कर दिया कि गुजरी और दकनी की तरह रेख़्ता-हिंदी में भी यह शक्ति है कि वह सबके हिंदी (भारतीय शैली) की फ़ारसी कविता से आगे बढ़ सकती है। उपमा एवं रूप-वर्णन हो या रूपकों का विस्तार, परिशुद्धता या जटिलता, विषयगत सुंदरता हो या अर्थगत, हिंदी-रेख़्ता फ़ारसी से हरगिज़ कम नहीं...। (पृ. 116-117)

इस पुस्तक की समीक्षा के शुरुआती अनुच्छेद में इशारा किया गया था दिल्ली के मिर्ज़ाओं को अपनी काव्य-भाषा की ऊँचाई पर बड़ा नाज़ था और इस अदबी एतबार से वे अबे-तबे बोलने वाले के ग़ुबार से भी दूर बैठना चाहते थे और इन्हीं लोगों ने, समीक्ष्य पुस्तक के अनुसार, पहले से चली आ रही लोक-प्रचलित हिंदवी को फ़ारसी की तरफ़ झुकाया। वली दकनी की कविता ने दिल्ली के तत्कालीन अदबी इदारे में सक्रिय शायरों को बल प्रदान किया और एक परायी भाषा यानी फ़ारसी से

25_chandan-shrivastava:Layout 1 5/7/2014 3:00 PM Page 353

पीछा छुड़ाने में मदद की, तो भी, दिल्लीवालों के दिल पर फ़ारसी का असर क़ायम रहा। सो, सत्रहवीं सदी के अंतिम समय में जो युवा साहित्यकार रेख़्ता (मतलब हिंदवी/उर्दू) अपना रहे थे, वे फ़ारसी में शेर कहना रेख़्ता की बनिस्बत कहीं ज़्यादा आसान समझते थे। किताब के अनुसार चूँकि रेख़्ता में शेर कहना उनके लिए एक ऐसे महाद्वीप में यात्रा करने सरीखा था जिसका पूरा मानचित्र अज्ञात था, इसलिए ज़रूरत ऐसे व्यक्तियों की थी जो उन्हें रेख़्ता में शाइरी के गुर सिखाए। इस आवश्यकता की पूर्ति के लिए शागिर्दी-उस्तादी की संस्था अस्तित्व में आयी। इस संस्था ने दिल्ली में नयी हिंदी/रेख़्ता शाइरी की नींव रखी और इस तरह दिल्ली की कविता लोक-प्रचलित हिंदवी से अपनी यात्रा शुरू करके अशराफ़ी यानी फ़ारसीनिष्ठ होती गयी। सो, आज की उर्दू को लोक-प्रचलित हिंदवी से अलगा कर अशराफ़ी उर्दू बनाने का सारा दोष दिल्ली वालों का है। किताब के अनुसार 'अट्ठारहवीं सदी के अंत में उर्दू की साहित्यिक संस्कृति में एक खेदजनक रुचि का आविर्भाव होता है। भाषा-शुद्धि के नाम पर एक तरह के मूलतत्त्ववाद का प्रचार किया जाने लगता है। भाषा के सुधार और भाषा के विकृत/अप्रिय तत्त्व के विरेचन की बात होने लगी ...।' (पृ. 130)

किताब इस निष्कर्ष पर समाप्त होती है— भले ही आगे कुछ शब्दों में उर्दू भाषा के भीतर 'दिल्ली स्कूल' और 'लखनऊ स्कूल' के अस्तित्व में आने का ज़िक्र है। विचित्र यह है कि लेखक आख़िर तक उर्दू के फ़ारसीनिष्ठ होने को लेकर कोई स्पष्ट निष्कर्ष नहीं निकाल पाया है। उर्दू का फ़ारसीनिष्ठ होते जाना उसे खेदजनक तो लगता है लेकिन साथ ही वह यह भी लिखता है कि 'अट्ठारहवीं सदी के अंत में फ़ारसीवालों के अनुकरण का जो प्रतिक्रियावादी दौर-दौरा शुरू हुआ वह उर्दू की साहित्यिक संस्कृति के इतिहास की ऐसी पहेली है जिसका समाधान अभी तक नहीं हुआ है बल्कि यूँ कहें तो ग़लत न होगा कि इस पहेली के अस्तित्व से ही हम अनभिज्ञ रहे हैं तो फिर इसका समाधान कहाँ से ढूँढ़ते ...।' (पृ.126) भाषा-शुद्धि के प्रयासों को प्रतिक्रियावादी कहने के बावजूद उसके कारणों को एक पहली कहना दरअसल किताब की राजनीतिक योजना की अनिवार्य परिणति है।

लेखक आख़िर तक उर्दू के फ़ारसीनिष्ठ होने को लेकर कोई स्पष्ट निष्कर्ष नहीं निकाल पाया है। उर्दू का फ़ारसीनिष्ठ होते जाना उसे खेदजनक तो लगता है लेकिन साथ ही वह यह भी लिखता है कि 'अट्ठारहवीं सदी के अंत में फ़ारसीवालों के अनुकरण का जो प्रतिक्रियावादी दौर-दौरा शुरू हुआ वह उर्दू की साहित्यिक संस्कृति के इतिहास की ऐसी पहेली है जिसका समाधान अभी तक नहीं हुआ है बल्कि यूँ कहें तो ग़लत न होगा कि इस पहेली के अस्तित्व से ही हम अनभिज्ञ रहे हैं तो फिर इसका समाधान कहाँ से ढूँढ़ते ...।'

याद करें कि किताब की शुरुआत कैसे हुई थी। शुरुआत में ही आरम्भिक उर्दू के साहित्येतिहास पर छाए घटाटोप को रेखांकित करते हुए उसे हटाने के लिए हिंदी-उर्दू के संबंधों को सुलझाना सबसे ज़्यादा अहम समझा गया था। रिश्ते के उलझावों को इस निष्कर्ष से सुलझाया गया था कि दरअसल पुराने वक़्तों में हिंदी (आधुनिक) थी ही नहीं, जो कुछ था उसे आधुनिक उर्दू का पूर्वज यानी हिंदवी कहा जा सकता है। जब किताब का अंत होता है तो निष्कर्ष यह निकलता है कि चली आ रही हिंदवी में खेदपूर्ण रुचि यानी उसके फ़ारसीनिष्ठ होने की शुरुआत अट्ठारहवीं सदी के आख़िर में दिल्ली में हुई। इस तरह किताब हिंदवी के बरअक़्स दोहरे अन्य की रचना करती है। एक तो स्वयं उन्नीसवीं सदी के उत्तरार्ध में अंग्रेज़ हाक़िम के भाषाई-विवेक से पैदा हिंदी और दूसरा स्वयं फ़ारसी। लेखक इस बात को लेकर आगाह करता है कि अमृत राय की पुस्तक (*अ हाऊस*

25_chandan-shrivastava:Layout 1 5/7/2014 3:00 PM Page 354

वली दकनी और शाह हातिम जैसे पात्र अगर किन्हीं कारणों से अमृत राय की किताब में भाषाई झगड़े के भीतर खलनायक हैं तो उर्दू *का आरम्भिक युग* में इसके उलट नायक बन जाते हैं। यह बात तनिक भी नहीं आने पाती कि दिल्ली के मिर्ज़ाओं को क्यों कर हिंदवी का फ़ारसीनिष्ठ रूप अपनी आत्मछवि के अनुकूल लगा या फिर आगे उन्नीसवीं सदी में क्यों यही फ़ारसीनिष्ठ उर्दू मुसलिम-मानस के भीतर अपने को एक क़ौम के रूप में देखने का सहारा बनी।

डिवाइडेड : ऑरिजिन ऐंड डिवेलपमेंट ऑफ़ हिंदी-उर्दू) राष्ट्रवादी आख्यान के भीतर हिंदी-उर्दू झगड़े को पढ़ती और इस भाषाई झगड़े के भीतर देश के विभाजन के झगड़े की झलक देखती है। अमृत राय की नज़र में फ़ारसीनिष्ठ उर्दू का बनना स्वयं में एक त्रासदी से कम नहीं और पहले से चली आ रही एक मिलवाँ भाषा के बीच बँटवारे की वजह अंग्रेज़ हाक़िम नहीं बल्कि अट्ठारहवीं सदी के पतनोंमुख मुग़ल-दरबार से जुड़े लोग (मिसाल के लिए शाह हातिम और इनसे पहले दिल्ली के शाह गुलशन की फ़ारसी-सलाह को मान कर नये तर्ज की कविता करने वाले वली दकनी) हैं। आश्चर्य नहीं कि किताब में अमृत राय की इस स्थापना का ज़िक्र चंद लफ़्ज़ों में आया है और अफ़सोस के स्वर में कहा गया है कि शाह हातिम की कार्यसूची का नकारात्मक पहलू ही भविष्य के इतिहासकारों को नज़र आया। इस तरह हातिम की सकारात्मक कोशिश को, जो एक इहलौकिक, आधुनिक, सभ्य समाज की मुहावरेदार भाषा (अर्थात् एक ऐसी भाषा जो शिक्षण के स्तर पर पूरी उतरे, लेकिन बोझिल ना हो) के पक्ष में थी, इस्लाह जबान (भाषा-सुधार) का अभियान बताया गया और हातिम को बैठे-बैठाए भाषा का संशोधक मान लिया गया। इसका परिणाम यह हुआ कि अमृत राय जैसे लोगों ने एक क़दम आगे बढ़ कर इसे हातिम बल्कि तमाम उर्दू साहित्यिक संस्कृति के बहिष्कारवाद का द्योतक माना ।

पुस्तक वली दकनी के बारे में कह आयी है कि उन्होंने रेख़्ता की शाइरी को एक परायी भाषा (फ़ारसी) से मुक्ति दिलाने का काम किया, सो उत्तर भारत में उर्दू के फ़ारसीनिष्ठ होने का कारण वली दकनी की कविता में नहीं खोजा जा सकता। लेकिन उस्तादी-शागिर्दी की संस्थाओं के जन्म लेने के बाद इस्लाह के नाम पर उर्दू भाषा के भीतर जो प्रयास हुए, उनके बारे में लेखक की राय है कि यह तो दरअस्ल सभ्य समाज की ज़रूरतों के लायक़ भाषा को गढ़ने की कोशिश थी। यानी दोष शाह हातिम जैसों का भी नहीं था, क्योंकि वे वली की भाषा से दिल्ली की भाषा का अंतर तो स्थापित करना चाहते थे लेकिन उनकी कोशिश यह भी थी कि शेर की ज़ुबान को दिल्ली के मिर्ज़ाओं से स्वतंत्र और सामान्य लोगों की भाषा के अनुरूप किया जाए (मज़ेदार यह भी है कि समीक्ष्य पुस्तक शाह हातिम की कोशिश को सभ्य समाज की ज़रूरतों के लायक़ भाषा गढ़ने की कोशिश मानती है लेकिन भारतेंदु-मण्डल द्वारा गढ़ी जा रही हिंदी को यही छूट देने के लिए तैयार नहीं है)। सवाल उठता है कि शाह हातिम की यह सकारात्मक कोशिश क्यों कर कामयाब न हुई? किताब का उत्तर है— यह अनसुलझी पहेली है।

अनसुलझी पहेली कहते ही एक साथ दो बातें होती हैं। वली दकनी और शाह हातिम जैसे पात्र अगर किन्हीं कारणों से अमृत राय की किताब में भाषाई झगड़े के भीतर खलनायक हैं तो उर्दू *का आरम्भिक युग* में इसके उलट नायक बन जाते हैं। यह बात तनिक भी नहीं आने पाती कि दिल्ली के मिर्ज़ाओं को क्यों कर हिंदवी का फ़ारसीनिष्ठ रूप अपनी आत्मछवि के अनुकूल लगा या फिर आगे उन्नीसवीं सदी में क्यों यही फ़ारसीनिष्ठ उर्दू मुसलिम-मानस के भीतर अपने को एक क़ौम के रूप में देखने का सहारा बनी। दूसरे, चूँकि किताब की मंशा आज की हिंदी को उसकी प्राचीनता के दावे

25_chandan-shrivastava:Layout 1 5/7/2014 3:00 PM Page 355

से अलगाकर अनुकरण में तैयार (इसलिए नकली) की गयी भाषा के रूप में स्थापित करने की है, इसलिए यह काम समीक्ष्य पुस्तक में उर्दू के फ़ारसीनिष्ठ होने के बारे में यह बताकर किया गया है कि आधुनिक हिंदी इसी की नकल है।

किताब में हिंदी की प्राचीनता के खण्डन की ऐसी हड़बड़ी है कि वह ताराचंद की पुस्तक *द प्रॉब्लम ऑफ़ हिंदुस्तानी* के सहारे हिंदी को फ़ारसीनिष्ठ उर्दू की अनुकृति बताते हुए (और इसी क्रम में उर्दू को एक स्वतंत्र भाषा और उसका पुराना नाम हिंदी अथना हिंदवी साबित करते हुए) ताराचंद की इस ज़रूरी बात का उल्लेख करना जायज़ नहीं समझती कि हिंदी अथवा हिंदवी का प्रयोग कई अर्थों में होता था जिसमें तीन प्रमुख हैं : हिंदी अथवा हिंदवी का प्रयोग अ-भारतीय चीज़ों के बरअक्स भारतीय चीज़ों को अलगाने के लिए, जैसे मुहम्मद शौफ़ी का अपने कविता-संकलन में ख़्वाजा मसूद साद सलमान को हिंदी (फ़ारसी के बरअक्स) का कवि बताना; हिंदी शब्द का प्रयोग बुंदेली, कन्नौजी, ब्रजभाषा, बंगारू, खड़ी बोली, अवधी, बघेली और छत्तीसगढ़ी के साथ-साथ राजस्थानी और मगही जैसी नवीन इण्डो-आर्यन भाषाओं के लिए; और हिंदुस्तानी, खड़ी बोली अथवा देहलवी बोली के आधुनिक साहित्यिक रूप के अर्थ में। हिंदी शब्द के ये तीन प्रयोग बताने के बाद ही ताराचंद लिख पाते हैं कि पश्चिमी हिंदी तथा पूर्वी हिंदी में शामिल बहन-बोलियों (सिस्टर स्पीचेज़) से आधुनिक हिंदी अलग और उर्दू के समान (आइडेंटिकल) है।

परसर्गों के उदय के आधार पर ही आधुनिक हिंदी के साहित्य के इतिहास का लेखक ताराचंद द्वारा बताई तमाम बोलियों में हुई रचनाओं को हिंदी की रचना मानता है। हिंदी की प्राचीनता के दावे के खण्डन के लिए इस प्रस्ताव का खण्डन ज़रूरी है, न कि यह देखना कि उसमें फ़ारसीनिष्ठ उर्दू की तर्ज पर संस्कृत के शब्द और मुहावरे कितने हैं ...

उपर्युक्त तीन तरह के प्रयोगों में से ऊपर के दो प्रयोगों पर ध्यान रखें तो मुल्ला दाऊद के *चंदायन* के बारे में यह कहना कि वे अपने समय में सचेत रूप से अवधी में लिख रहे थे न कि हिंदी में और कबीर तथा अब्दुल कुद्दूस गंगोही के बारे में यह कहना कि उनकी रचना हिंदी की नहीं क्योंकि उसमें ब्रज, अवधी और भोजपुरी की बहुलता दिखाई देती है (जैसा कि *उर्दू का आरम्भिक युग* में कहा गया है) मुश्किल हो जाएगा। ऐसे में पुस्तक की आधार-स्थापना कि उर्दू का पुराना नाम हिंदी या हिंदवी है, अत: प्राचीनता का दावा उर्दू का बनता है न कि आधुनिक हिंदी का, ख़तरे में पड़ जाती है। ध्यान रखने की बात यह है कि आधुनिक हिंदी का साहित्येतिहास लेखक (जैसे रामस्वरूप चतुर्वेदी) हिंदी शब्द के उपर्युक्त बहुविध प्रयोगों को ध्यान में रखकर हिंदी साहित्य की प्राचीनता का दावा करता है। चतुर्वेदी अपनी रचना *हिंदी साहित्य और संवेदना का विकास* में पुराने वक़्तों की हिंदी को प्राकृत, पालि या अपभ्रंश से अलगाने के लिए 'परसर्गों के उदय' का प्रस्ताव करते हैं— 'परसर्गों का रूप नाथों की बानियों में दिखाई देने लगता है। पिण्ड **तैं** ब्रह्माण्ड, मनवा **नैं,** कहाँ **सूँ,** हम **कौं**। इन बानियों का समय हजारी प्रसाद द्विवेदी ने एक हज़ार ईस्वी के आस-पास स्थिर किया है।' परसर्गों के उदय के आधार पर ही आधुनिक हिंदी के साहित्य के इतिहास का लेखक ताराचंद द्वारा बताई तमाम बोलियों में हुई रचनाओं को हिंदी की रचना मानता है। हिंदी की प्राचीनता के दावे के खण्डन के लिए इस प्रस्ताव का खण्डन ज़रूरी है, न कि यह देखना कि उसमें फ़ारसीनिष्ठ उर्दू की तर्ज पर संस्कृत के शब्द और मुहावरे कितने हैं, जैसा कि ताराचंद या फिर फ़ारूक़ी साहब के लेखन की अंतर्निहित मान्यता है।

समीक्ष्य पुस्तक पहले से ही हिंदवी वा हिंदी के ऊपर यह अतिरिक्त ज़िम्मेदारी आयद करके चलती है कि वह साम्प्रदायिक एकता की भाषा थी और लोक-प्रचलित थी। मिसाल के लिए पुस्तक

25_chandan-shrivastava:Layout 1 5/7/2014 3:00 PM Page 356

की यह पंक्ति देखी जा सकती है : 'गुजरी शताब्दियों में क्या हिंदू क्या मुसलमान सभ्य समाज की भाषा और सारे देश की लिंग्वाफ्रांका (सामान्य भाषा) हिंदी अर्थात् फ़ारसीमिश्रित हिंदुस्तानी (खड़ी बोली) थी, न कि वह आधुनिक हिंदी जो संस्कृतयुक्त हिंदुस्तानी (खड़ी बोली) है।' ऐसी मान्यता के कारण समीक्ष्य पुस्तक इस ऐतिहासिक तथ्य की अनदेखी करती है कि अंग्रेज़ों के आने के पहले भी हिंदी/हिंदवी का वह साहित्यिक रूप, जो सूफ़ियों की बानियों के रूप में फ़ारसी लिपि में लिखा जा रहा था और जिसे फ़ारूक़ी साहब उर्दू की पूर्वजा बताना चाहते हैं, स्वयं साम्प्रदायिक अलगाव का भी एक साक्ष्य हो सकता है। हिंदी साहित्य के इतिहास का एक तथ्य यह भी है कि जिस वक़्त वली दकनी की मृत्यु होती है तक़रीबन उसी वक़्त कवि भूषण अपने *शिवराज भूषण* में खड़ी बोली (समीक्ष्य पुस्तक के अनुसार वह भाषा जिसमें सूफ़ियों की बानी लिखी गयी है) से आगाह होने का साक्ष्य देने के बावजूद ब्रजभाषा में कविता करते हैं। क्या यह तथ्य संकेत नहीं देता कि कवि भूषण के वक़्त तक हिंदी/हिंदवी का एक रूप मुसलमानी मान लिया गया था और हिंदी की विभिन्न बोलियों में लिखने वाले कुछ कवि, जो आज हिंदी के कवि कहलाते हैं, इस रूप से स्वयं को अलगा रहे थे। इस संदर्भ में भूषण की कविता का एक उदाहरण ग़ौर करने लायक़ है :

पंज हजारिन बीच खड़ा किया मैं उसका कुच्छ भेद ना पाया।
भूषण यों कहि औरंगज़ेब उजीरन सों बेहिसाब रिसाया।।
कम्मर की न कटारी दई इस्लाम ने गोसलख़ाना बचाया।
और सिवा करता अनरत्थ भली भई हत्थ हथियार न आया।।

हिंदी/हिंदवी का वह रूप जो सूफ़ियों की बानियों के भीतर तैयार हुआ उससे हिंदी/हिंदवी की शेष कविता (ब्रज, अवधी आदि) को अलग रखने की वजह भाषा के भीतर नहीं बल्कि तत्कालीन सांस्कृतिक संघर्ष में है। चाहे आज के संदर्भों में बात राजनीतिक रूप से जितनी नाजायज़ लगे, लेकिन हिंदी साहित्य के इतिहास में इस संघर्ष को दर्ज करती यह पंक्ति बड़े विवादों के बावजूद आज तक मौजूद है : मलेच्छाक्रां तेषु देशेषु पापैकनिलयेषु, सत्पीड़ा व्यग्र लोकेषु, कृष्णएव गतिर्मम ...। समीक्ष्य पुस्तक यह नोट करती है कि हिंदी-हिंदवी-देहलवी का सौभाग्य था कि उसे शुरू से ही फ़ारसी लिपि उपलब्ध थी। यह इसलिए हुआ कि इस भाषा का साहित्यिक प्रयोग सबसे पहले मुसलमानों ने किया। फ़ारूक़ी साहब द्वारा प्रयुक्त शब्दावली का इस्तेमाल करते हुए पूछें तो क्या जो लोग देश को मलेच्छाक्रांत मानते थे उनके लिए हिंदवी को न अपनाने के लिए यही कारण पर्याप्त न था कि उसका पहला प्रयोग मुसलमानों ने किया, और यह अलगाव फ़ारसी लिपि को अपनाने के कारण और भी ज़्यादा देखार था? विचार इस बात पर भी किया जाना चाहिए कि क्या पुराने समय में जिन कवियों ने अपने को हिंदवी से अलग रखा, उनके लिए यह बात कहीं से मानीख़ेज़ और निर्धारक नहीं रही होगी कि जिसे फ़ारूकी साहब हिंदवी कह रहे हैं, उसका तत्कालीन साहित्य धार्मिक प्रेरणाओं (इस्लाम) की उपज है। उर्दू *का आरम्भिक युग* में इस तथ्य को नोट किया गया है कि हिंदी/ हिंदवी में साहित्य रचना आरम्भ होने के लिए किसी प्रकार की धार्मिक भावना की प्रेरणा शायद हमेशा आवश्यक रही है ...। (पृ. 91)

कुछेक ब्राह्मणों और कायस्थों के फ़ारसी पढ़ने-लिखने के तथ्य से यह सिद्ध नहीं होता कि धर्मगत विभाजन का भाव पुराने वक़्तों में समाज के हर गोशे में मिट चला था और हिंदवी (फ़ारसी लिपि में लिखी) के भीतर हिंदी-मुस्लिम दोनों के लिखत-पढ़त की मौजूदगी साझी संस्कृति के बनने का अकाट्य प्रमाण है। उर्दू *का आरम्भिक युग* की अंतर्निहित मान्यता का कमज़ोर पक्ष यही है। एक विवादपरक स्थापना को स्वीकार करके चलने के कारण यह पुस्तक उर्दू के आरम्भिक युग के संधान में निकलती तो बड़ी तैयारी के साथ है, लेकिन भाषाई इतिहास की जटिलताओं के साथ इंसाफ़ होते-होते रह जाता है।